

एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-VI

बच्चों के समूह (पार्ट-II)

फ़राह फ़ारूकी

डायरी का यह हिस्सा, बच्चों द्वारा खुद की कोशिशों से स्कूल में चलाई जा रही मजहबी शिक्षा के अनुभवों को पेश करता है और सवाल उठाता है कि इस तरह की कोशिशों को शिक्षा के संदर्भ में कैसे समझा जाए।

इस अनुभव में बच्चों के मजहबी शिक्षा के प्रति आकर्षण के कारणों को समझने का प्रयास किया गया है और उन मुश्किल सामाजिक-आर्थिक स्थितियों को भी विचार के केन्द्र में रखा गया है जिनके चलते महजब जीवन का एक लाजमी हिस्सा बन जाता है। शिक्षा पर सवाल उठाते हुए कहा गया है कि हमारी स्कूली शिक्षा का स्तर ऐसा नहीं है कि बच्चे लोकतंत्र और समाजवादी लोकतंत्र के मूल्यों को गहराई से समझ सकें। अतः महजब जीवन में सहजता से अपना स्थान बनाए रहता है।

इस किस्त में बच्चों के जिस समूह का जिक्र है वह मजहबी तालीम से जुड़ी बच्चों की एक स्वैच्छिक कोशिश है। स्कूल में रोज़ बच्चे कुछ वक्त के लिए एक जगह जमा होते हैं और मजहबी तालीम होती है। यह स्कूल के सुनिश्चित पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं है, उनकी खुद की छोटी-सी कोशिश है। इस समूह के विवरण के साथ-साथ यहां यह बहस भी पेश है कि एक अल्पसंख्यक इदारे में इस तरह की मजहबी तालीम के क्या कुछ फ़ायदे हैं? क्या “बराबरी” का पल्लू थाम लेना कि मजहबी तालीम या तो सभी शैक्षिक इदारों में हो या किसी में नहीं, “बराबरी” की बहस को साधारण बना देता है; इस बारे में बातचीत पेश है।

मजहबी तालीम

स्कूल में, आधी छुट्टी के वक्त, तक़रीबन 80 बच्चे एक कमरे में जमा होते हैं और मजहबी तालीम होती है। पिछले चार साल में, मेरे देखते ही देखते, 15-20 बच्चों का समूह अब इतना बड़ा बन चुका है।

पूछने पर पता चला कि तक़रीबन आठ-दस साल पहले, एक उर्दू के टीचर (जो पांच साल पहले रिटायर हो गए) बच्चों को सुबह असेम्बली के वक्त या फिर आधी छुट्टी के वक्त कुरान और हदीस के हवाले से रोज़मर्रा की ज़िन्दगी से जुड़ी अच्छी बातें बताते थे। आबाद साहब का ताल्लुक़ तबलीगी जमात से था। तबलीगी जमात एक ग़ैर-राजनीतिक संस्था है जिसका मक़सद है मुसलमान और ग़ैर-मुसलमान लोगों तक़ खुदा का पैग़ाम पहुंचाना और इस्लाम की दावत देना। इसके छः सिद्धांत हैं- खुदा के एक होने पर यकीन रखना, नमाज़ की पाबंदी, इल्म हासिल करना, हर एक की इज़्ज़त, जज़बे की सच्चाई और तबलीग़ के काम में योगदान। हिन्दुस्तान में, 1920 में, तबलीगी जमात की शुरुआत मौलाना मौहम्मद इलयास ने की थी जो देवबन्द से फ़रिग़ थे। यह सुन्नी मुसलमानों की जमात है जो “असली इसलामी तालीम” की कोशिश करती है जो कि रसूल अल्लाह हज़रत मोहम्मद (सल-लल्लाहो अलयही वसल्लम-उन्हें सुकून मिले) की ज़िन्दगी से मुतास्सिर है और उस तरह की ज़िन्दगी जीने की दावत देती है। लोग इकट्ठा होकर इलाकों में गश्त करते हैं, मस्जिदों में और घर-घर जाकर दीन की बातें होती हैं।

इस इलाके में तबलीगी जमात काफ़ी काम कर रही है। दिन में गश्त होता है और इलाके की कई मस्जिदों में मग़रिब या शाम की नमाज़ के बाद तालीम होती है। हमारे स्कूल के काफ़ी बच्चे तालीम में शिरकत करते हैं। कई बच्चे हैं जो जमात के साथ, कई दिन के लिए, इलाके के बाहर भी जाते रहे हैं। स्कूल से आधे किलोमीटर की दूरी पर दिल्ली की 350 साल पुरानी शाही ईदगाह है। यहां सालाना तबलीगी इजतिमा होता है जिसमें हिन्दुस्तान भर से और बाहर के मुल्कों से लाखों मुसलमान इकट्ठा होते हैं। साल में तीन दिन चलने वाले इस इजतिमा के बाद मुसलमानों के लिए, समाज के लिए और दुनिया भर के लोगों की बेहतरी के लिए लम्बी दुआ होती है। तब हमारे स्कूल की आधी छुट्टी कर दी जाती है और तमाम स्टाफ़ और बच्चे दुआ में शिरकत करते हैं।

आबाद साहब ने अपने रिटायरमेंट से पहले तालीम की जिम्मेदारी कुछ बड़ी कक्षाओं के बच्चों को सौंपी थी और बच्चों ने यह बखूबी निभाई भी है। पिछले चार सालों में मैंने किसी भी टीचर को इसका हिस्सा नहीं पाया। बच्चे खुद ही एक कमरे में इकट्ठा होते हैं और दीन की बातें करते हैं। कुछ बच्चों की जिम्मेदारी तय होती है कि वे बच्चों को तालीम में शामिल होने की दावत दें। जैसे ही आधी छुट्टी होती है, कई बच्चे जिस कमरे में तालीम होती है, उसके बाहर खड़े हुए बच्चों को बुलाते नज़र आते हैं। कुछ देर बाद कमरे का दरवाज़ा भेड़ दिया जाता है। एक बच्चा “मुन्तख़ब अहादीस*”, किताब से कोई छोटी-सी हदीस पढ़ता है और उसकी तशरीह बयान करता है, बाकी बच्चे बेहद अदब से सुनते हैं। यह हदीसों रोज़े, नमाज़, ज़कात के अलावा, अच्छे बरताव, व्यवहार और रिश्ते निभाने के बारे में भी होती हैं। मैं कम से कम बीस बार इस समूह में शामिल हुई हूँ, एक दिन का आंखों देखा हाल यहां दर्ज है:

फ़ज़िल मियां, जो बारहवीं जमात में पढ़ते हैं, सर पर लाल गोल टोपी लगाए, हाथ में किताब लिए आगे आए। कुछ और बच्चों ने भी अपने सरों पर टोपियां लगा ली थीं। कमरा खचा-खच भरा था और काफ़ी बच्चे, हाथ बांधे, पीछे दीवार से लगे खड़े थे। दो-तीन बच्चे जो इन्तेज़ाम देख रहे थे उन्होंने बच्चों को आगे आने का इशारा किया ताकि और लोग अगर चाहें तो दरवाज़े से, जो कमरे की पिछली दीवार में है, अन्दर दाख़िल हो सकें।

फ़ज़िल ने किताब में से हदीस पढ़ने से पहले बिस्मिल्लाह और दुरूद पढ़ा। फिर किताब में से, जो कि हिन्दी या देवनागरी में लिखी है, चंद जुमले पढ़े। पढ़ने के बाद, हाज़रीन को, उन्हीं की तफ़सील कुछ इस तरह समझाई:

“भाइयो, यहां आया है कि वालिदैन की खिदमद सब पर फ़र्ज़ है। रसूल अल्लाह सल्लल्लाह-हो-अलयही वसल्लम का इरशाद है कि अगर किसी की वालिदा का इन्तेक़ाल हो गया है तो उनकी मग़फ़िरत और अपने सवाब के लिए, यहां आया है (किताब की तरफ़ इशारा करते हुए) कि हम ख़ाला की खिदमद करें। अगर ख़ाला भी हयात नहीं हैं, तो किसी और रिश्तेदार ख़ातून की खिदमद करें। इसी तरह, अगर किसी के वालिद का इन्तेक़ाल हो गया है तो वह अपने चच्चा की खिदमद करे। यहां तक आया है कि जो लोग या उनके दोस्त अहबाब उनके (वालिद के) सामने आते थे, उनका घर में उसी तरह इस्तक़बाल करना चाहिए। यह नहीं कि अब वालिद नहीं रहे, तो हम मिलकर किया करेंगे। रसूल अल्लाह का इरशाद है कि वालिद के दोस्तों से उसी तरह मिलना चाहिए जैसे वह खुद उनसे मिलते थे।”

यह दस मिनट की तालीम जिसमें यह छोटी-सी तफ़रीर शामिल है, इतने खूबसूरत उच्चारण और अन्दाज़ से होती है कि हर बार मुझे हैरान-सा कर जाती है। इसके अलावा, इतने अदब-एहताराम का समा बंधता है कि

* कन्धालवी यूसुफ़, मुन्तख़ब अहादीस, तर्तीब व तर्जुमा, यासीन बुक डिपो, दिल्ली-110006

लेखक

फ़राह फ़ारूकी

दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में बीएलएड कोर्स से जुड़ी रही हैं। आजकल जामिया मिलिया इस्लामिया के शिक्षा विभाग में एसोशियट प्रोफेसर हैं और दिल्ली एजुकेशन सोसाइटी से संबद्ध हैं।

यकीन नहीं आता है कि यह वे ही बच्चे हैं जिन्हें गैर-ज़िम्मेदार और शरीर क़रार दे दिया गया है। किताब पढ़ने के दौरान या फिर बयान के वक़्त जब-जब रसूल अल्लाह का नाम आता था तब सारे बच्चे बड़े अदब से बहुत मद्ध्यम आवाज़ में दूरूद (अरबी ज़बान में एक छोटी-सी दुआ) पढ़ते थे। साथ ही, बयान के दौरान, कई बच्चे बड़े एहतराम से बेशक या इन्शाअल्लाह कहते थे। यानी बात समझ रहे हैं, उससे इत्तेफ़ाक़ करते हैं और खुदा का साथ रहा तो ऐसा करने की कोशिश करेंगे।

तालीम तो यहां ख़त्म हो गई। बच्चे उठकर जाने लगे, फ़ाज़िल ने उन्हें रोकने के लिए इशारा किया और कहा, “भाईयो, एक दो बातें और कहनी हैं”। सब ख़ामोशी से बैठ गए। उन्होंने कहना शुरू किया, “आपको पता है कि अब बारहवीं का और दसवीं का बैच निकलने वाला है। अब, माशाअल्लाह, नवीं के साथी पाबंदी से आने लगे हैं। तालीम जारी रखने की ज़िम्मेदारी अब उनकी है, वह बैत कर लें”। बाकी बच्चे, “इन्शाअल्लाह” कहते हैं। जाते-जाते, फ़ाज़िल ने सबको और ख़ासतौर से बारहवीं के साथियों को याद दिलाया “फ़ेयरवैल से पहले नसीम भाई (जो कैंटीन चलाते हैं) का हिसाब कर देना, भाइयो”। मतलब, उधार चुकता करने से था। इसके बाद ज़्यादातर बच्चे धीरे-धीरे आराम से कमरे के बाहर निकल गए। बाकी बचे पंद्रह बच्चे एक गोलाई से खड़े हो गए। फ़ाज़िल ने बात शुरू की और पूछा, “कल तालीम कौन करेगा, इस बारे में क्या राय है?”

दूसरा बच्चा- “भाई, हाफ़िज़ फ़हीम के बारे में राय है”

फ़हीम- “भाई बिलाल, के बारे में राय है”

मोहसिन- “हाफ़िज़ फ़हीम के बारे में राय है”

जमील - “तो फिर क्या कल के लिए हाफ़िज़ फ़हीम का नाम तय कर लें”

सभी अदब से- “जी ज़रूर, मुनासिब रहेगा”।

बिलाल- “और कल दावत देने का काम कौन करेगा”,

जमील - “भाई अदनान, भाई ख़िज़र, भाई मोहसिन, हाफ़िज़ जुनैद और राशिद कर लेंगे”।

फ़ाज़िल- “इस बारे में क्या राय है?”

सभी अदब से- “जी, इन्शाअल्लाह, ज़रूर”

इस तरह अगले दिन के इन्तेज़ाम के बारे में राय-मशवरा हुआ और एक-दूसरे को सलाम करते हुए सब क्लास से बाहर निकल गए।

मैं यह कहना चाहूंगी कि यह तस्वीर जहां बातों पर ग़ौर हो, अदब और एहतराम हो, एका हो, इतमिनान और सुकून के साथ गुफ़्तगू हो और फ़ैसले हों, स्कूल में किसी कक्षा में या प्रोग्राम में देखने को नहीं मिलती। इस जज़बे के पीछे क्या सिर्फ़ मज़हब की तरफ़ रुज़ान और खिंचाव ही शामिल है? क्या खुदा की मोहब्बत और ख़ौफ़ एक बड़ी वज़ह है और इन बच्चों का आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य उसे बढ़ावा देता है? क्या यह रुज़ान और तालीम उनकी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी और स्कूली तालीम को मुतास्सिर करता होगा? इन सवालों के जवाब ढूंढना मेरे लिए आसान नहीं था, लेकिन एक कोशिश तो मैंने की। कुछ सवाल बच्चों से भी पूछे। जैसे तबलीग़ क्यों करते हो? क्या कोई फ़ायदा महसूस किया? क्या अपनी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में और तबलीग़ में कोई रिश्ता देखते हो? इसमें शामिल होने से क्या कुछ बेहतर इंसान या बेहतर मुसलमान बन पाए?।

दो बच्चों के जवाब, जो अलग-अलग वक़्त में बातचीत से हासिल हुए, यहां पेश हैं।

बच्चा- “मैम, मदद तो आती है”

मैं- “कैसे, कोई मिसाल देकर बताओ?”

बच्चा- “मैम, मैं जमात के साथ तीन दिन के लिए दिल्ली के बाहर गया था। हम रात का खाना खाने बैठे, अचानक मेरा दिल काली दाल और चावल खाने का चाहने लगा। मैंने मुफ्ती साहब से कहा तो वह बोले, अब इस वक़्त रात में इसका इन्तेज़ाम कहां हो पाएगा। इतने में देखा, मौहल्ले के कोई साहब काली दाल और चावल लिए चले आ रहे हैं। साथियों ने कहा भी, भाई इस वक़्त कुछ और मांगा होता तो मिल जाता।”

इसी सवाल पर दूसरे बच्चे ने कुछ मिलते-जुलते अल्फ़ाज़ में कहा- “मैं जमात के साथ ग़श्त पर था, सख़्त गर्मी का मौसम था। ठण्डा पानी पीने का दिल चाह रहा था। इतने में देखा कि एक साहब बाल्टी में बर्फ़ का पानी लिए चले आ रहे हैं”।

क्या इन छोटी-छोटी से दुआओं की कुबूलियत, बड़ी-बड़ी-सी उम्मीदों के चिराग़ दिलों में जला सकती है? क्या उम्मीद की छोटी-सी किरन को थामे रहना और रौशनी की उम्मीद रखना सब बच्चों की और “बचपन” की खासियत है? क्या यह उम्मीद इन्हें आगे बढ़ने की हिम्मत और अपनी ज़िन्दगी से जुड़ी जद्दोज़हद के लिए मज़बूती देगी? मुझे लगता है मज़हब जो एक ग़ैबी मदद की उम्मीद देता है, ग़रीब का बड़ा सहारा होता है। ख़ासतौर से अनिश्चित हालात की सूरत में, जब ज़िन्दगी बाज़ार से जुड़ी हो। पता न हो कि कब आपके हुनर की और उत्पादन की मांग घट जाएगी और लेने के देने पड़ जाएंगे। साथ ही बच्चों का यह भी कहना, मानना है कि खुदा ने उन्हें इस काम के लिए चुना है। एक बच्चे के हिसाब से -“खुदा की रहमत है कि उसने हमें इस काम के लिए चुना है, जो यह काम करता है, खुदा उसके लिए दो फ़रिश्ते मुनतख़िल कर देता है जो उसकी हिफ़ाज़त करते हैं और उसकी रोज़ी-रोटी में बरकत होती है” इस तरह “ख़ास” होने का एहसास और खुदा की इनायत की उम्मीद इन्हें जुड़े रहने के लिए प्रेरित करती है।

इस सवाल पर कि क्या उन्होंने अपने अन्दर कोई बदलाव महसूस किया, यह कहना था:

बिलाल: “जी मैम, बदले तो हैं, वैसे भी अगर आज कुछ ग़लत काम करते भी हैं, तो इन्शाअल्लाह कल सोचेंगे, परसों बदलेंगे”।

फ़ाज़िल: “नहीं मैम, मैं सच कह रहा हूं, स्कूल का माहौल तो बहुत बदला है। पहले इतनी लड़ाइयां होती थीं, मैम खुदा की क़सम सच कह रहा हूं। कई बार तो पुलिस केस भी हुआ है। अब तो माशाअल्लाह कई सालों से ऐसा कुछ भी नहीं हुआ है।”

बच्चों के हिसाब से, उन्हें अपने अन्दर, बरताव और तौर-तरीकों में, बदलाव महसूस होता है। साथ ही, यह भक्ति उन्हें सवाब और खुशी का एहसास भी देती है। इस तरह का माहौल आपसी रिश्ते पुख़्ता करने का काम तो करता ही है। बच्चे एक जगह मिलते हैं, राय-मशवरा करते हैं, बातें तय होती हैं और एक काम अंजाम तक पहुंचता है। यहां अलग-अलग उग्रों के, कक्षाओं के, गली-कूचों के, ताक़तवर और कमज़ोर समझे जाने वाले बच्चे एक जगह अपनी मर्ज़ी से जमा होते हैं और अपनी नज़र में एक अच्छा काम अन्जाम देते हैं। इस तरह कई तरह के आपसी ग़ैर-बराबरी के रिश्ते, शिकवे और शिकायत, बराबरी, दोस्ती और इज़ज़त के रिश्तों में बदलते हैं। स्कूल के बाहर भी, ऐसी जमात अलग-अलग आर्थिक और सामाजिक वर्गों के बीच में एक ताल्लुक़ और रिश्ता बनाने का काम करती है। कई बार ऐसे रिश्ते एक-दूसरे का हाथ पकड़कर आगे बढ़ने का काम भी करते हैं। जबकि तबलीगी जमात एक सुन्नी मुसलमानों की जमात है, लेकिन हमारे स्कूल में इसका ज़्यादा खूबसूरत और शामिल करने वाला रूप देखने को मिलता है। तालीम में शिया बच्चे और कई हिन्दू बच्चे भी शामिल हो जाते हैं। अकसर यह दोस्ती, लेन-देन, उधार-क़र्ज, मदद के रिश्तों में भी तबदील हो ही जाती है। आर्थिक तंगी और परेशानियां, इन बच्चों को एक-दूसरे की ज़रूरत और तंगी का एहसास

शायद बखूबी करा देती है। तालीम में लड़कियां शामिल नहीं होती हैं। एक साल पहले मुनतज़िम लड़कों ने कोशिश की थी कि लड़कियों की तालीम का इन्तेज़ाम अलग से हो सके। कुछ दिन यह सिलसिला चला भी, लेकिन जारी नहीं रह सका।

इस्लाम, ज़कात और आपसी मदद का पैग़ाम तो देता ही है। इसकी झलक भी इन बच्चों के व्यवहार में दिख जाती है। शायद आस्था और यकीन, तालीम के ज़रिए और पुख़ता हो ही जाता होगा। दसवीं क्लास के काफ़ी बच्चे तालीम में शामिल होते हैं। एक दिन बच्चों को क्लास टीचर से पता चला कि उनके एक साथी की सालाना फ़ीस जमा नहीं हुई है (साल में एक बार 500 रुपए, मैगज़ीन, डायरी, पहचान कार्ड, पिकनिक के लिए लिये जाते हैं)। यह बच्चा यतीम है और उसकी माली हालत बहुत कमज़ोर है। क्लास के साथियों ने अगले दिन टीचर को लाकर रक़म दे दी। उन्होंने पूछा कि क्या ज़कात के पैसे हैं, तब तो अरीब को बताना पड़ेगा। बच्चों ने बताने से मना किया और कहा कि उनमें से कई बच्चे कमाते हैं और एक साथी अच्छी हैसियत वाला है। साथ ही यह भी कहा, “बताइएगा मत, अरीब का दिल दुखेगा”। टीचर से यह भी पता किया कि किसी और की फ़ीस तो बाकी नहीं रह गई है।

चाहे स्कूल हो या फिर घर-खानदान और इनके काम की जगह, इनमें से बहुत से बच्चे सम्मान और अहमियत से महरूम हैं। इस “नेक” काम से जुड़ना उन्हें एक ऐसे काम से जुड़ने का एहसास देता है, जिसे उनके समाज की मंजूरी ही नहीं बल्कि इज़्ज़त भी हासिल है। यह मंच बच्चों को अगुवाई के, आयोजन करने के और रहनुमाई के मौक़े भी देता है।

यह तो हम जानते ही हैं कि नैतिकता और मूल्यों के बहुत से स्रोत हो सकते हैं, जिनसे प्रेरित होकर तालीम और समझ के ज़रिए हम अपना एक समझा-बूझा तसव्वुर बनाते हैं। मेरा अन्दाज़ा है कि हमारे स्कूल में तदरीस का स्तर ऐसा नहीं है कि किताबों में दिए समाजवाद और समाजी लोकतंत्र जैसे मूल्यों की गहरी समझ बने और बच्चों की ज़िन्दगी में एक हलचल-सी मचा दे। वहीं यह भी सच है कि कुछ सामाजिक दस्तूरों को लेकर तो इनके दिमाग़ में सवाल उठते ही हैं। इसके अलावा स्कूल इन्हें एक बेहतर ज़िन्दगी की तस्वीरें भी दिखाता है। ऐसे में यह मंच उन्हें एक राह दिखाता है और मूल्य भी देता है जो कि एक लंगर का काम करते हैं। यह एक ऐसा मंच भी है जहां बराबरी है। क्या ऐसे मंच हो सकते हैं जो मज़हबी रंगत न लेते हुए, बच्चों को सामाजिक मूल्यों से और नज़रियों से दो-चार करवाएं? ऐसे एक मंच के बारे में अगली किस्त में बातचीत होगी।

पिछली किस्त में जिन तीनों समूहों का ज़िक्र है, उन तीनों ही समूहों के बच्चे, कुछ कम कुछ ज़्यादा तादाद में तालीम में शिरकत करते हैं। आपने यह तो पढ़ा ही था कि मज़हब के “ख़िलाफ़” टिप्पणी सुनने पर उन्होंने किस तरह, साल भर तक, अपनी इतिहास की टीचर को परेशान किया। मज़हब किसे समझा जा रहा है और नैतिकता क्या है और क्या इनमें आपस में कोई संबंध है, यह तो अपने-आपमें गहरे सवाल हैं। कुछ इन्हीं सवालों को उजागर करता हुआ एक मज़ेदार वाक़या यहां पेश है। हाल में फ़ाज़िल मियां मुझे जामिया में मिल गए। यह उन्हीं फ़ाज़िल का ज़िक्र है जो तालीम में बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते हैं। उन्होंने बारहवीं का इम्तिहान दिया है इसलिए बी.ए. का फ़ार्म लेने आए थे। साथ में चाय पीने के दौरान मैंने पूछा, भई पर्चे कैसे हुए? जवाब दिया बढ़िया हो गए। साथ ही शिकायत की, कि उर्दू की टीचर से अतिरिक्त कक्षाओं के लिए कहा था, उन्होंने मना कर दिया था। फिर अपनी “नेकी” कुछ इन लफ़्ज़ों में बयान की: “मैम, अल्लाह के शुक्र से मैंने साथियों की बहुत मदद की। उर्दू के एक्ज़ाम में एक गड़बड़ टीचर कमरे में आ गई थीं, कुछ करने ही नहीं दे रही थीं। कभी एक सीट पर बिठाती थी, कभी दूसरी पर। जब तीसरी बार मुझे उठने के लिए कहा, तो मैंने पेपर मुंह पर फेंक दिया। प्रिंसिपल को बुलवाया गया। अब मैम, हर एक से बात करने का एक

तरीका होता है। मैंने बहुत आराम से उन्हें बताया कि यह टीचर पर्चा ही नहीं करने दे रही हैं। धमकी दे रही हैं कि झूठा फर्मा लगाकर मुझे फंसा देगी। प्रिंसिपल बेचारे अच्छे थे। उन्होंने उस टीचर को दूसरे कमरे में भेज दिया। दूसरी टीचर आ गई। फिर तो सभी साथियों ने आराम से काम किया।”

जब एक सांस में इतना कुछ कहकर बीच में ज़रा रुके तो मैंने कहा: “चलो, तो फिर तुम्हारी वजह से सबके पर्चे अच्छे हो गए।” कहा, “जी मैम, माशाअल्लाह ठीक हो गए। एक्ज़ाम खत्म होने के बाद हमने प्रिंसिपल को एक पेंटिंग भी गिफ्ट की।”

यह सब सुनने के बाद भी, मैं अपना नैतिकता और “नेकी” का तसव्वुर फ़ाज़िल पर नहीं थोप पाई। बस कुछ हैरानी-परेशानी का आलम था। शायद, इस संदर्भ में, मेरा नेकी का जो तसव्वुर बना था उसमें अच्छे स्कूल, मदद, किताबों की भरमार, वक़्त और सुकून सभी कुछ था। मैं यहां पर्चे लिखने में की गई नक़ल और बेईमानी को सही करार नहीं दे रही हूँ या यूँ कह सकते हैं कि मेरा सामाजीकरण इसे सही नहीं ठहराएगा। यह भी समझने की ज़रूरत है कि नक़ल करना कितना आम और सामान्य मान लिया गया है कि यह हरकत बयान करने में किसी तरह की शर्मिंदगी का एहसास ही नहीं है। साथ ही मज़हब और “नैतिकता” (जिसे मैं नैतिकता मानती हूँ), दो अलग-अलग आयाम नज़र आते हैं। हम-बिरादरी होने का एहसास और साथ ही अपनों की मदद और उनके काम आने को फ़ाज़िल मियां “नेकी” करार दे रहे हैं। अगर संदर्भ के बग़ैर देखें तो नेकी है भी!

फ़िरके (Denominational) से जुड़े स्कूल और मज़हबी तालीम

मज़हबी तालीम और मज़हब जबकि हमारे स्कूल के सुनिश्चित पाठ्यक्रम का हिस्सा नहीं हैं, लेकिन स्कूली ज़िन्दगी में तो शामिल हैं ही। यह आग्रह कि यह स्कूल एक मुस्लिम अल्पसंख्यक स्कूल है इसलिए यहां मज़हबी तालीम तो जारी रह सकती है, एक बहुत ही सरलीकृत और एक तरफ़ा बहस होगी। इसलिए भी इसे ज़्यादा करीब से देखने की ज़रूरत है क्योंकि, मेरे खुदके, किसी शैक्षिक संस्था में मज़हबी तालीम होने पर बहुत से सवाल और एतराज़ रहे हैं! इस बहस से पहले मैं कहना चाहूँगी कि अगर स्कूल किसी फ़िरके से जुड़े नहीं हैं तो यह बहस अलग शक़ल लेगी। तब तो स्कूली पाठ्यक्रम में या तो सभी समुदायों के बच्चों की सांस्कृतिक ज़िन्दगी की झलक हो या किसी की भी नहीं! बहस से पहले, ऊपर दिए गए फ़ायदे जो बच्चे महसूस करते हैं, उनके अलावा कुछ और चीज़ों पर चर्चा कर लेते हैं।

स्कूल में चाहे टीचर मज़हबी तालीम में शामिल न होते हों, लेकिन उनकी ज़िन्दगी को क्योंकि मुतस्सिर करने में मज़हब का बड़ा हाथ है, इसलिए मज़हब के आइने से चीज़ों को देखना-समझना लाज़मी हो जाता है। कुछ के लिए मज़हब रोज़मर्रा की ज़िन्दगी को अनुशासित करने में मदद करता है। जैसे कि हमारे स्कूल से जुड़े दो स्टाफ़ के लोग जानलेवा बीमारी से ग्रस्त हो गए। एक तो चल बसे दूसरे माजूरी की ज़िन्दगी जी रहे हैं। सुनने में आया: “अरे मैडम! बच्चों का और स्कूल का बड़ा नुक़सान किया है, अब खुदा की लाठी तो बेआवाज़ होती ही है, बाकी लोग सबक़ नहीं लेते हैं।” बच्चों में भी खुदा का ख़ौफ़ जगाकर कोशिश होती है कि वह अनुशासित रहें। “अच्छे लड़के, लड़कियों की तरफ़ आंख उठाकर नहीं देखते, गुनाह होता है।” “अच्छी लड़कियां तमीज़ से दुपट्टा ओढ़ती हैं, लड़कों से ज़्यादा नहीं घुलती-मिलती बदनामी होती है”। यह सब मज़हब के हवाले से कहा-सुना जाता है। अनुशासन के दायरे में कुछ उठती आवाज़ों और विरोध को भी शामिल कर लिया जाता है: “ग़लत बात है, बड़ों को जवाब नहीं देते हैं और उस्तादों को तो बिलकुल नहीं”, “अगर कोई बड़ा ग़लत भी कह रहा है तो चुप सुन लेते हैं।” इस तरह बेख़याली में ही सही, मज़हब रोज़मर्रा की ज़िन्दगी को दायरों में तो बांधता ही है। अफ़सोस, इस तरह कुछ बच्चे तो “तमीज़” की चपेट में आकर स्कूल के इंतज़ाम और नाइंसाफी के खिलाफ़ आवाज़ भी नहीं उठा पाते।

मज़हब से जुड़ी मान ली गई बहुत-सी बातों पर स्कूल में कई बार बहस नामुमकिन-सी महसूस होती है। जैसे सालाना जलसा कुरान की तिलावत से शुरू होना था, एक बड़ी आयत चुन ली गई। मैंने और कई साथी टीचर ने सुझाव दिया, छोटी-सी पढ़ ली जाए ताकि टाइम कम खर्च हो। जवाब मिला, “कहीं खुदा का आज्ञाब नाज़िल न हो, सब चीज़ों के लिए टाइम है, इसके लिए नहीं”। कई टीचर ने दबा-दबा-सा एतराज़ किया, “भई खुदा कब से इतना मोल-भाव करने लगा, आयत लम्बी है तो ठीक, छोटी है तो ग़लत, यह लोग अजीब बातें करते हैं”। खुलकर एतराज़ नहीं हुआ, आयत लंबी ही चुनी गई। मज़हब और उससे जुड़ी नैतिकता को जिस तरह समझा जाता है, उसमें बहस के लिए जगह नहीं रह जाती है। ऐसे में यह डर तो जायज़ है कि मज़हब कट्टरपन की शकल इख़्तियार न कर ले और मज़हबी तालीम से जुड़े बच्चे भी धर्म के ठेकेदार ना बन बैठें!

लेकिन, खुलकर एतराज़ और बहस होने की भी गुंजाइश निकल ही आती है। जैसे हाल में स्कूल का यूनीफ़ार्म बदला गया। साथ-साथ कई अध्यापकों और प्रिंसिपल की सिफ़ारिश आई कि लड़कियों के लिए स्कार्फ़, जिसे लड़कियां सर पर ओढ़ें, यूनीफ़ार्म का हिस्सा बना दिया जाए। ज़्यादातर लोग खासतौर से मर्द सिफ़ारिश से खुश थे। कई महिला टीचर को एतराज़ था, इनमें से कुछ ने खुलकर मुख़ालफ़त की, “जब हम ही नहीं ओढ़ते हैं, तो बच्चियों पर क्यों लाद दें”। एतराज़ हुआ, कुछ बहस हुई और आख़िर में नतीजा यह हुआ कि स्कार्फ़ लागू नहीं किया गया। चाहे यह सीधा मज़हबी तालीम से जुड़ी चीज़ न हो, मज़हब से तो बहरहाल जुड़ी हैं। स्कूल में मज़हबी तालीम होना, थोड़ी-सी कोशिश से इस तरह के और हालात पैदा कर सकता है जहां ऐसे मुद्दों पर बहस मुमकिन हो सके। इस बहस की इतना बच्चों तक भी पहुंची और उनमें आपस में बहस का सिलसिला चला।

एक मज़हबी विरादरी या समुदाय जो कि अल्पसंख्यक लोगों का हो उसके बीच में अन्दरूनी बहस होने के अवसर एक मायने में राष्ट्र और वतनपरस्ती के हित में है। अगर हम देश में और मीडिया में मुसलमानों के मुद्दों पर बहस देखते हैं तो अकसर जिस अंदाज़ में वे पेश की जाती हैं, वह एक खिल्ली उड़ाने वाला अंदाज़ महसूस होता है। जैसे: बुर्के को ही ले लीजिए। जो बातचीत मीडिया में सुनने को मिली है, लगता था कि एक समुदाय जिसका प्रभुत्व है उसके मुक़ाबले में एक पिछड़ी विरादरी है जिसे खुद को बदलने और सुधारने की ज़रूरत है। भई, बुर्का हो या घूँघट महिलाएं इसमें भी काम में बराबरी कर ही पाती हैं। उनकी पहचान और तहफ़ुज़ अगर बुर्के में है तो क्या तकलीफ़ है। बस उनकी मर्ज़ी जुड़ी होनी चाहिए! “बुर्के” जैसी चीज़ों के पीछे असली मुद्दे जैसे शिक्षा और आर्थिक पिछड़ापन छुप से जाते हैं। दूसरी तरफ़ जिस अंदाज़ से यह बहस पेश होती है, मुसलमानों को अपनी पहचान पर आघात और मज़ाक दोनों महसूस होता है। जब इसी तरह की बहस समुदाय के अन्दर होती है तो एक तरह से बाहरी बहस के लिए उनकी मानसिक तैयारी हो जाती है। बहस के आयाम और मुद्दों से एक तरह की वाक़फ़ियत होती है और महसूस होता है कि इन चीज़ों पर बहस मुमकिन है। यूं भी कहा जा सकता है कि शायद उस तरह का अलगाव महसूस नहीं करते।

मज़हबी तालीम को सिर्फ़ संविधान की धारा 29 और 30 की बिना पर हक़ करार न देकर, एक और तरह से भी देखा जा सकता है। अगर हम भारत और उसकी पहचान से जुड़े चिह्न देखते हैं, तो प्रभुत्व समुदाय के निशान ही देखने को मिलते हैं। चाहे वह कॉमनवैलथ खेलों का समारोह हो या फिर किसी और देश से आए नेता का इस्तक़बाल। हिन्दुस्तान इस मायने में एक “हिन्दू” राष्ट्र के रूप में ही उभरता है। इस तरह बराबरी की बहस कुछ और पेचीदा हो जाती है। क्या एक समुदाय को अपने कहे जाने वाले इदारों में भी अपनी पहचान जिसका, एक हिस्सा मज़हब भी है, उसे समझने, खोजने, बहस करने का मौक़ा नहीं दिया जाना चाहिए? हां, क्योंकि इदारा सरकारी मदद से चलता है तो यह देखने का हक़ और ज़िम्मेदारी सरकार की हो सकती है कि इदारे में समाज के हित में, जिसमें सभी समुदायों के साथ इज्ज़त की भावना जुड़ी है, काम हो रहा है या नहीं।

मुझे एहसास है कि इस्लाम और मुसलमानों को पिछले काफी सालों से शिद्दत, दहशत और हिंसा से जोड़ दिया गया है। यह भी हम जानते हैं कि मज़हब को राजनैतिक जामा पहनाकर कई रूप दिए जा सकते हैं, जिसमें एक रंग शिद्दतनुमा भी हो सकता है। या फिर मज़हब का नाम आते ही संघ (RSS) जैसे गुटों का खयाल हमें सता देता है जिसके तसव्वुर में राष्ट्र का मतलब सांस्कृतिक तौर पर एक ही रंग का है। क्या हम यह तमाम डर अपने ऊपर हावी करके शक और शुबह के दायरे में बच्चों की इस कोशिश को भी शामिल कर लें? वैसे भी, यह बच्चे मज़हब और मज़हबी तालीम से तो स्कूल के बाहर भी दो-चार होते हैं। शायद स्कूल का संदर्भ उन्हें कभी एक मौका दे मज़हब को समाजी उलूम के चश्मे से आंकने का।

अभी तक तो तालीम का शामिल करने वाला एक खूबसूरत रूप ही दिखता है। बराबरी की बहस और पेचीदा हो जाती है जब हम देखते हैं कि बच्चे जो इस काम से जुड़े हैं वे कौन हैं। यह वे बच्चे हैं जिनकी आवाज़ और पहचान को समाज में जगह नहीं मिल पाई है। उनके लिए यह एक ऐसा मंच है जहां उन्हें, यह अहसास कि वह एक नेक काम कर रहे हैं, अपने बारे में एक अच्छा एहसास देता है। दूसरों से जुड़कर बातचीत करने और बहस करने के मौके देता है और उम्मीद भी जगाता है। आप ही बताइए फ़िलहाल जिस रूप में तालीम चल रही है, उसे जारी रहने देना चाहिए या नहीं? हमें इस सवाल का जवाब तलाशने के लिए, बड़े संदर्भ, जो कि राष्ट्र है, उसके साथ-साथ बच्चों के फ़ौरी संदर्भ को देखना होगा। फ़ायदे-नुक़सान तोलने होंगे। आसान रास्ता यह ज़रूर है कि किसी भी इदारे में मज़हबी तालीम ना हो। लेकिन आसानी के साथ कितना और किसे फ़ायदा है या नुक़सान है यह देखना होगा। मैं तो बल्कि यह कहूंगी कि हमें हिम्मत जुटानी होगी कि शैक्षिक इदारों में मज़हब का जायज़ा सामाजिक विज्ञान के चश्मे से करने के मौके दें। आखिर मज़हब हमारी रोज़मर्रा की ज़िन्दगी को, समाज को और राष्ट्र को लगातार मुतास्सिर करता ही है। हां, यह ज़रूर है कि क़रीब से देखें कि कहीं यह कट्टर राजनैतिक रंग न ले ले। वैसे जहां तक राजनीति का सवाल है, गांधी जी ने भी खिलाफ़त आन्दोलन के दौरान मज़हब का बेहतरीन इस्तेमाल किया था। उन्हीं के हिसाब से मज़हब का पक्का होना और मज़हब का कट्टर होना दो अलग-अलग चीज़ें हैं। आप ही तय करें कि क्या हम शैक्षिक इदारों में विभिन्न मज़हबों का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए तैयार हैं? वैसे भी किताबों में तो बच्चे बुद्ध, महावीर, हज़रत मोहम्मद (सल्लाहो अलयही वसल्लम) के बारे में तारीख, समाज, राजनीति के हवाले से तो पढ़ते ही हैं। दर्शन और नैतिक मूल्यों से जुड़े बड़े सवालों से फिर क्यों न जूझें? आज जब देश भ्रष्टाचार और “मूल्यों” में गिरावट से ग्रस्त है, तो क्या मज़हबी तालीम इनसे जूझने में कुछ मदद कर सकती है?

अगली किस्त में हम कुछ और समूहों की बात करेंगे। साथ ही देखने की कोशिश करेंगे कि अध्यापक बच्चों का चित्रण किस तरह करते हैं। आप ही बताइएगा कि यह कितना जायज़ है। ♦